P: ISSN No. 2231-0045 RNI No. UPBIL/2012/55438 VOL.-7, ISSUE-4 (Part-1) May-2019
E: ISSN No. 2349-9435 Periodic Research

अभाव के ज्ञान की समस्या : एक विवेचना

नंदिनी सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर,
दर्शन शास्त्र विभाग,
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी, उ0 प्र0, भारत

सारांश

हम प्रायः ऐसे वाक्यों का प्रयोग अपने दैनिक जीवन में करते हैं कि, 'यहाँ कुर्सी नहीं है' अथवा 'कमरे में मेज नहीं है' आदि। स्पष्ट है कि यहाँ मेज अथवा कुर्सी का निश्चित स्थान अथवा कमरे में जो अभाव है उसका हमें बहुत सही सहज ज्ञान हो रहा है। इसके लिए हमें किसी प्रकार के विशेष प्रयास की आवश्यकता भी नहीं पड़ती परन्तु यह सारा कार्य सम्भव कैसे होता है? क्या मेज अथवा कुर्सी के अभाव का वैसा ही साक्षात् प्रत्यक्ष होता है जैसा किसी उपस्थित विषय का? अथवा किसी स्थान पर हमने कोई वस्तु देखी थी किन्तु अब वहाँ वह वस्तु नहीं है अतः स्मृति के आधार पर हम वस्तु के अभाव का अनुमान करते हैं या फिर 'अभाव' न तो प्रत्यक्ष द्वारा और न अनुमान द्वारा ज्ञेय है बल्कि जैसा कुमारिल मीमांसकों का मानना है 'अभाव' का ज्ञान अनुपलब्धि नामक स्वतंत्र प्रमाण से ही सम्भव है? संक्षेप में, प्रस्तुत लेख उपरोक्त प्रश्नों पर ही विचार करता है। यहाँ मैंने 'अभाव' के ज्ञान से सम्बन्धित मीमांसा–दर्शन के विचारों को केन्द्र में रखकर न्याय–सम्प्रदाय और बौद्ध सम्बन्धों विचारों को भी प्रस्तुत किया है। पुनः मीमांसा–दर्शन में भी मैंने श्री नारायण भट्ट और श्री नारायण पण्डित विरचित मानमेयोदयःग्रन्थ के सन्दर्भ में अपनी बात कही है जिसमें मीमांसक श्री कुमारिल भट्ट के विचारों का ही समर्थन है।

मुख्य शब्द : तत्त्वमीमांसा, श्री नारायण भट्ट, श्री नारायण पण्डित, श्री कुमारिल भट्ट, दार्शनिक मन, प्रामाणिक ज्ञान, स्मृति, ज्ञेय, अनुपलब्धि, प्रत्यक्ष, प्रमाण, तत्त्वमीमांसा, वस्तुवाद, वैशेषिक–दर्शन, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय पदार्थ न्याय–वैशेषिक, अभाव, जिज्ञासा, ज्ञान की समस्या ।

प्रस्तावना

दर्शन व्यक्ति की अनन्त जिज्ञासाओं और कभी समाप्त न होने वाले प्रश्नों का क्षेत्र है। यहाँ एक निश्चित उत्तर देकर जिज्ञासाओं को शांत कर पाना और प्रश्नों के क्रम को तोड़ सकने का दावा करना दोनों असम्भव है। अतः अपने लेख में मैंने, अभाव के ज्ञान से जुड़ी समस्या पर प्रकाश मात्र डाला है। लेख का निष्कर्ष भाग यद्यपि मेरे विचारों की दिशा का निर्धारण तो करता है किन्तु यह समस्या के किसी निश्चित निदान को प्रस्तुत करने का दावा नहीं करता है।

पुनः लेख का केन्द्रीय विषय 'अभाव' के 'ज्ञान' से जुड़ी हुई समस्याओं पर विचार करना है। यहाँ पदार्थ के रूप में 'अभाव' के स्वरूप और उससे जुड़े विषयों का विवेचन नहीं किया गया है। संक्षेप में, यह लेख 'अभाव' पर ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से विचार न करके तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से विचार करता है। यद्यपि ज्ञानमीमांसा को तत्त्वमीमांसा से पूर्णतः स्वतंत्र और भिन्न नहीं माना जा सकता क्योंकि तत्त्वमीमांसा के आधार पर ही किसी दर्शन–सम्प्रदाय की ज्ञानमीमांसा विकसित होती है। अतः किसी दर्शन–सम्प्रदाय ने 'अभाव' के ज्ञान को किस प्रकार सम्भव माना है यह जानने के लिये, यह जानना आवश्यक है कि उसे दर्शन–सम्प्रदाय ने किस रूप में 'अभाव' की व्याख्या की है।

यहाँ मैंने 'अभाव' के ज्ञान से सम्बन्धित मीमांसा–दर्शन के विचारों को केन्द्र में रखकर न्याय–सम्प्रदाय और बौद्ध सम्बन्धों विचारों को भी प्रस्तुत किया है।

पुनः मीमांसा–दर्शन में भी मैंने श्री नारायण भट्ट और श्री नारायण पण्डित विरचित मानमेयोदयःग्रन्थ के सन्दर्भ में अपनी बात कही है जिसमें मीमांसक श्री कुमारिल भट्ट के विचारों का ही समर्थन है।

जब हम 'अभाव' के ज्ञान से जुड़े विषय पर विचार करते हें तब हम प्रायः 'अभाव' शब्द का प्रयोग इस प्रकार कर रहे होते हैं मानो 'अभाव' जगत् में विद्यमान अन्य वस्तुओं के समान एक भाव रूप पदार्थ है और उनका ज्ञान हमें किस प्रकार होता है, यह जानना ही हमारा उद्देश्य है। 'अभाव' शब्द मात्र से ही

नकारात्मक भाव का योग होता है। सामान्य रूप से किसी स्थान विशेष में किसी काल विशेष में किसी विषय की अनुपस्थिति को उस विषय का अभाव कहते हैं।

जिज्ञासु मन को भाव रूप पदार्थों का ज्ञान ही जटिल और समस्याप्रद दिखाई देता है ऐसे में 'अभाव' जो कि भाव रूप नहीं है, का ज्ञान हमें किस प्रकार होता है यह प्रश्न एक दार्शनिक मन की जिज्ञासा का विषय बन जाता है। हमें अपने व्यवहारिक जीवन में किसी विषय की उपस्थिति का जितना स्पष्ट और प्रामाणिक ज्ञान होता है उतना ही स्पष्ट और प्रामाणिक ज्ञान किसी विशय की अनुपस्थिति, उसके अभाव का भी होता है। हम प्रायः ऐसे वाक्यों का प्रयोग अपने दैनिक जीवन में करते हैं कि, 'यहाँ कुर्सी नहीं है' अथवा 'कमरे में मेज नहीं है' आदि। स्पष्ट है कि यहाँ मेज अथवा कुर्सी का निश्चित स्थान अथवा कमरे में जो अभाव है उसका हमें बहुत सही सहज ज्ञान हो रहा है। इसके लिए हमें किसी प्रकार के विशेष प्रयास की आवश्यकता भी नहीं पड़ती परन्तु यह सारा कार्य सम्भव कैसे होता है? क्या मेज अथवा कुर्सी के अभाव का वैसा ही साक्षात् प्रत्यक्ष होता है जैसा किसी उपस्थित विषय का? अथवा किसी स्थान पर हमने कोई वस्तु देखी थी किन्तु अब वहाँ वह वस्तु नहीं है अतः स्मृति के आधार पर हम वस्तु के अभाव का अनुमान करते हैं या फिर 'अभाव' न तो प्रत्यक्ष द्वारा और न अनुमान द्वारा ज्ञेय है बल्कि जैसा कुमारिल मीमांसकों का मानना है 'अभाव' का ज्ञान अनुपलब्धि नामक स्वतंत्र प्रमाण से ही सम्भव है?

संक्षेप में, प्रस्तुत लेख उपरोक्त प्रश्नों पर ही विचार करता है। अभाव का ज्ञान हमें कैसे होता है इस प्रश्न को समझने के क्रम में ही मैंने कतिपय दार्शनिक मतों का उल्लेख और उनसे उत्पन्न होने वाली समस्याओं के विवेचन पर लेख में किया है।

यदि हम मानते हैं कि 'अभाव' का ज्ञान हमें साक्षात् प्रत्यक्ष द्वारा होता है तब हम न्याय–वैशेषिक दर्शन–सम्प्रदाय के मत का समर्थन करते हैं। वस्तुतः न्याय–वैशेषिक दर्शन–सम्प्रदाय ने 'अभाव' के ज्ञान की व्याख्या प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा की है। इस दर्शन–सम्प्रदाय की तत्त्वमीमांसा के संदर्भ में ही 'अभाव' के ज्ञान विषयक उनके विचारों को समझा और उसका परीक्षण किया जा सकता है। तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से न्याय–वैशेषिक वस्तुवादी दर्शन है। वे बाह्य जगत् में उपस्थित विषयों की स्वतंत्र सत्ता में विश्वास करते हैं। ए.सी. चट्टोपाध्याय के शब्दों में ''वस्तुवाद वह दार्शनिक सिद्धान्त है जिसके अनुसार किसी भी वस्तु का अस्तित्त्व आत्मा के ज्ञान पर निर्भर नहीं होता है''[1] न्याय–दर्शन में सोलह पदार्थों को स्वीकार किया गया है। इन सोलह पदार्थों का अन्तर्भाव वैशेषिक–दर्शन के सात पदार्थों (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव) में किया गया है। पदार्थ को परिभाषित करते हुये प्रशस्तपाद कहते हैं–

''पण्णानामपि पदार्थानामस्तित्त्वमभिधयेत्व ज्ञेयत्वानि''[2]

अर्थात् पदार्थ वह है जिसका अस्तित्व है, जिसका बोध हो सकता है और जिसे कोई नाम दिया जा सके। यद्यपि न्याय–वैशेषिक दर्शन में उपरोक्त विशेषताओं के होने के आधार पर ही 'अभाव' को एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में स्वीकार करना यह न्याय–वैशेषिक दर्शन की यथार्थवादी अथवा वस्तुवादी प्राक्कल्पना का तार्किक अभ्युपगम है। एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में 'अभाव' वह है जिसका स्वतंत्र अस्तित्व है, जिसे नाम दिया जा सकता है और जिसका बोध अथवा ज्ञान होता है। परन्तु प्रश्न यह है कि 'अभाव' का बोध अथवा उसका ज्ञान हमें कैसे होता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये न्याय–वैशेषिक कहते हैं कि 'अभाव' का हमें साक्षात् ज्ञान होता है और यह ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सम्भव होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा 'अभाव' के ज्ञान की व्याख्या न्याय–वैशेषिक दर्शन ने किस प्रकार की है, यह जानने से पूर्व प्रत्यक्ष प्रमाण क्या है यह जानना आवश्यक है। प्रायः इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष और इसके प्रमाण की संज्ञा दी गई है। नैयायिक श्री अन्नमभट्ट के शब्दों में –

''इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञानं प्रत्यक्षम्''[3]

उपरोक्त सूत्र में इन्द्रिय पद से तात्पर्य प बाह्येन्द्रियों तथा आंतरिक इन्द्रिय मन से है; अर्थ से तात्पर्य ज्ञेय अथवा विषय से है और सन्निकर्ष का अर्थ है इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष जिसके छः प्रकार माने गये हैं –

1. संयोग, 2. संयुक्त–समवाय, 3. संयुक्त–समवेत–समवाय, 4. समवाय, 5. समवेत–समवाय और 6. विशेषण–विशेष्य–भाव।

डपरोक्त में विशेषण–विशेष्यभाव सन्निकर्ष द्वारा अभाव के प्रत्यक्ष की व्याख्या की गई है। न्याय–वैशेषिक मत में किसी अधिष्ठान विशेष में किसी वस्तु का अभाव अधिष्ठान का विशेषण है। ऐसी स्थिति में जब हम किसी स्थान विशेष में घड़े के अभाव का ज्ञान प्राप्त करते हैं तो यहाँ हमारे नेत्रों का सन्निकर्ष उस स्थल के अभाव रूप विशेषण के साथ होता है। इसे विशेषण–विशेष्यभाव सन्निकर्ष कहते हैं जिसके द्वारा 'अभाव' का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव होता है।

यदि 'अभाव' के ज्ञान सम्बन्धी उपरोक्त मत का परीक्षण करें तो ज्ञात होता है कि 'अभाव' के ज्ञान की सहज वस्तुवादी व्याख्या करने वाला उपरोक्त मत सहज रूप में बुद्धिग्राह्य नहीं है।

सर्वप्रथम यदि धरती पर घड़े के अभाव को हम धरती की एक विशेषता मानते मानते हैं तो धरती पर घड़े के होने पर भी 'घटाभाव' का बोध होना चाहिये क्योंकि यह तो उस स्थल की विशेषता है जिसका घड़े के यहाँ पर होने या न होने से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिये।

पुनः एक अधिकरण में एक साथ अनेकानेक वस्तुओं का अभाव हो सकता है। ऐसी स्थिति में उस अधिकरण के प्रत्यक्ष से उन समस्त विषयों के अभाव का ज्ञान होना चाहिये, जबकि ऐसा नहीं होता है। न्याय–वैशेषिक मत के पास इस समस्या का समाधान नहीं है।

पुनः जैसा कि न्याय–वैशिषिक मानते हैं, अधिकरण के अभाव रूप विशेषण के साथ इन्द्रियार्थसन्निकर्ष सम्भव नहीं है। सम्बन्ध दो ही प्रकार का होता है– 1. संयोग सम्बन्ध और 2. समवाय सम्बन्ध।

संयोग सम्बन्ध दो द्रव्यों के मध्य होता है और 'अभाव' द्रव्य नहीं है अतः उसका नेत्र के साथ संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता। पुनः अभाव के साथ नेत्र का

समवाय सम्बन्ध भी सम्भव नहीं है क्योंकि समवाय सम्बन्ध दो अयुत सिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध है तथा अभाव और नेत्र के मध्य का सम्बन्ध अयुत सिद्ध नहीं है। इस प्रकार जब नेत्र और अभाव के मध्य कोई सम्बन्ध ही नहीं है तो नेत्र से 'अभाव' के ग्रहण का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है।

अब यदि हम 'अभाव' के ज्ञान की समस्या का विवेचन भाट्ट मीमांसा–दर्शन के संदर्भ में करें तो उनके अनुसार अनुपलब्धि ही वह प्रमाण है जिससे किसी से वस्तु की अनुपलब्धता, उसके अभाव अथवा उसके न होने का ज्ञान होता है। श्री कुमारिल भट्ट के शब्दों में–

''प्रमाणपंचकं यत्र वस्तुरूपे न जायते
वस्तुसत्तावबोधार्थ तत्राभाव प्रमाणता।''[4]

अर्थात् 'अभाव' के सन्दर्भ में जहाँ अन्य पाँच प्रमाण चरितार्थ नहीं हो सकते वहाँ अनुपलब्धि को प्रमाण मानना आवश्यक है। भाट्ट मीमांसकों का 'अभाव' सम्बन्धीमत न्याय–वैशेषिक मत के समान है जिसके अनुसार 'अभाव' की ज्ञाता के मन से स्वतंत्र सत्ता है वह एक स्वतंत्र पदार्थ है। परन्तु 'अभाव' के ज्ञान के सम्बन्ध में उनका मत न्याय–वैशेषिक से पूर्णतः भिन्न है। मीमांसकों के अनुसार 'अभाव' का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा नहीं बल्कि अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा है। यह ज्ञान किस प्रकार सम्भव होता है, यह जानने से पूर्व अनुपलब्धि प्रमाण का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है। श्री नारायण भट्ट मानमेयोदय में अनुपलब्धि प्रमाण का लक्षण बताते हुये कहते हैं–

''उपलम्भयोग्यत्वे सत्यनुपलम्भनम्।''[5]

अर्थात् अनुपलब्धि प्रमाण अभाव रूप विषय का बोधक होता है। अभाव–प्रमा का साधन होने के कारण इसे अभाव प्रमाण कहते हैं।

उपरोक्त सूत्र में रचनाकार ने 'उपलम्भ योग्यता' पद का प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य है, विषय और विषय के सन्निकर्ष आदि को छोड़कर विषय की उपलब्धता से सम्बन्धियषत अन्य सामग्री। इस सामग्री का ज्ञान, विषय के अभाव के ज्ञान में सहायक होता है। यथा–

''सा च ज्ञाततथाभावज्ञानस्य सहाकारिणी
अज्ञातोऽनुपलम्भस्तु सत्तामात्रेण बोधकः।[6]

अर्थात् सामग्री सम्पत्ति का ज्ञान, अभाव–ज्ञान की सहायिका होती है और इससे अज्ञात, अनुपलब्ध विषय की सत्ता का बोध होता है। सामग्री सम्पत्ति का तात्पर्य है नेत्रों का उन्कमीलन, प्रकाश का साथ और मनः प्रणिधान आदि। जब हमें यह ज्ञान होता है कि उपरोक्त सामग्री उपस्थित है तब उस ज्ञान से युक्त घटाभाव अथवा किसी विषय के अभाव का ज्ञान होता है।

अद्वैत वेदान्ती भी 'अभाव' के ज्ञान के सम्बन्ध में अनुपलब्धि प्रमाण का ही समर्थन करते हैं। श्री धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार ''ज्ञान रूपी करण से उत्पन्न न होने वाले अभावानुभव के असाधारण कारण को अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं।''[7] ध्यातव्य है कि धर्मराजाध्वीन्द्र के अनुसार प्रत्यक्ष–योग्य वस्तु के ही अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। जो विषय प्रत्यक्ष की योग्यता नहीं रखता, उसका ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से नहीं होता है, यथा धर्म, अधर्म जैसी वस्तुओं में प्रत्यक्षयोग्यता नहीं है अतः उनकी अनुपलब्धि, योग्यानुपलब्धि नहीं कही जा सकती।

इस प्रकार कुमारिल भट्ट आदि विचारकों ने, इस आधार पर कि प्रमाण और प्रमेय के स्वभाव में समानता होनी चाहिए, 'अभाव' के ज्ञान के लिए, अभावात्मक प्रमाण, 'अनुपलब्धि' को स्वीकार किया।

अब यदि अनुपलब्धि प्रमाण विषयक उपरोक्त मत का परीक्षण करें तो इसके विषय में प्रथम आपत्ति यह उठायी जा सकती है कि वह आवश्यक नहीं है कि प्रमाण और प्रमेय में सत्तापरक एकरूपता हो। हमें कदाचित् अभाव से भाव विषय का भी बोध होता है जैसे वर्षा का अभाव देखकर वायु द्वारा बादल के उड़ाये जाने का ज्ञान। नैयायिक जयन्त भट्ट के शब्दों में–

''अभावश्च क्वचिल्लिंगमिष्यते भावसंविदः।[8]

अर्थात् अभाव से भाव का भी ज्ञान होता है।

पुनः यदि हम भारतीय दर्शन के संदर्भ में देखें तो ज्ञान में सदैव प्रमेय और प्रमाण होता है। प्रमाण वह साधन है जिससे प्रमेय का ज्ञान होता है। अतः निश्चित रूप से ज्ञान का साधन, ज्ञान के विषय से भिन्न है परन्तु यदि हम यह कहें कि किसी स्थान विशेष में किसी विषय (घड़े आदि) की अनुपलब्धि का बोध अनुपलब्धि प्रमाण से होता है तो यहाँ ज्ञेय तो अनुपलब्धि (घड़े की) की है तो इस ज्ञेय का साधन भी अनुपलब्धि ही है। वस्तुतः अनुपलब्धि को प्रमाण के रूप में स्वीकार न करके हेतु अथवा लि› के रूप में देखना अधिक संगत प्रतीत होता है। यहाँ विषय की अनुपलब्धि के आधार पर उसकें न होने (अभाव) का ज्ञान होता है। बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति में अनुपलब्धि की गणना लि› के तीन प्रकार में की है–

यहाँ अनुपलब्धि को हेतु अथवा लि› माना गया है जिसके आधार पर विषय के न होने का ज्ञान होता है। यह ज्ञान अनुमान से होता है। विषय की अनुपलब्धि के आधार पर उसके नस होने का हम अनुमान करते हैं। 'अभाव' के ज्ञान की यह अनुमान सम्बन्धी व्याख्या व्यावहारिक बुद्धि द्वारा सहज रूप में समझने योग्य है। किन्तु यहाँ भी अनुमान, अविनाभाव सम्बन्ध पर आधारित है और जब हम अविनाभाव सम्बन्ध के आधार पर किसी विषय के अभाव का अनुमान करते हैं तो यह अनुमान समस्यास्पद हो जाता है।[10] यथार्थवादी दार्शनिकों ने जिस 'अभाव' कोस यथार्थ 'पदार्थों' में स्वीकार किया है उसे बौद्ध दर्शन में कल्पना की संज्ञा दी गयी है।

शेरबात्स्की के अनुसार यह सदैव ही प्रज्ञा का कार्य होता है जो स्मृतिजन्य कल्पनाओं को प्रस्तुत करके किसी विज्ञान के अनुपलब्ध पक्ष का विश्लेषण करती है।[11]

इस प्रकार 'अभाव' की स्वरूपगत विशेषता में बौद्ध दर्शन का वस्तु आदि दर्शन से भेद तो है ही, 'अभाव' के ज्ञान के सम्बन्ध में भी भेद है। जहाँ न्याय और मीमांसा दर्शन 'अभाव' के ज्ञान के सम्बन्ध में क्रमशः 'प्रत्यक्ष' और 'अनुपलब्धि' को प्रमाण मानते हैं वहीं बौद्ध दर्शन को अभाव का ज्ञान अनुमान प्रमाण द्वारा मान्य है।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत लेख का केन्द्रीय विषय 'अभाव' के 'ज्ञान' से जुड़ी हुई समस्याओं पर विचार करना है। जब हम

'अभाव' के ज्ञान से जुड़े विषय पर विचार करते हें तब हम प्रायः 'अभाव' शब्द का प्रयोग इस प्रकार कर रहे होते हैं मानो 'अभाव' जगत् में विद्यमान अन्य वस्तुओं के समान एक भाव रूप पदार्थ है और उसका ज्ञान हमें किस प्रकार होता है, यह जानना ही हमारा उद्देश्य है। 'अभाव' शब्द मात्र से ही नकारात्मक भाव का बोध होता है। सामान्य रूप से किसी स्थान विशेष में किसी विशेष समय में किसी विषय की अनुपस्थिति को उस विषय का अभाव कहते हैं।

निष्कर्ष

'अभाव' के ज्ञान के सन्दर्भ में यदि हम उपरोक्त मतों को उनकी सीमाओं के साथ स्वीकार करते हैं तो यह उचित ही है परन्तु विकटता यह है कि दर्शन में जब हम किसी समस्या का हल ढूँढ़ते हैं तो हमारा उद्देश्य एक ऐसा उत्तर प्राप्त करना होता है जो पूर्णतः स्पष्ट और अप्रशनांकित हो परन्तु उत्तरकालीन विट्गेन्स्टाइन के शब्दों में कहे तो ऐसा 'पूर्णतः स्पष्ट' उत्तर प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है उस समस्या को ही समाप्त कर देना। समस्या को समाप्त करना ही समस्या का निदान है।[12] विट्गेन्स्टाइन के ही दृष्टिकोण से देखें तो जब हम 'अभाव' के ज्ञान की बात करते हैं तो यहाँ हमारा मानसिक चिन्तन 'अभाव' के शब्दिक चित्र का बंदी बन जाता है और हम स्वयं को इससे मुक्त नहीं करते हैं।[13] वस्तुतः 'अभाव' कोई भाव रूप पदार्थ नहीं है जिसके ज्ञान की उसी प्रकार व्याख्या किये जाने की आवश्यकता है जैसे मेज, कुर्सी आदि भाव रूप पदार्थों की। अतः कहा जा सकता है कि यह एक 'मिथ्या समस्या' (Pseudo Problem) है।

पुनः पाश्चात्य दार्शनिक गिल्बर्ट राइल के शब्दों में कहें तो 'अभाव' के ज्ञान की व्याख्या विविध प्रमाणों द्वारा करना Category Mistake अथवा 'प्रत्यय–विपर्यय' है क्योंकि यहाँ अभाव को अन्य अस्तित्ववान वस्तुओं के समान ही एक भाव रूप पदार्थ मानकर उसके ज्ञान की बात की जा रही है जो कि अनुचित है क्योंकि भाव और अभाव दोनों ही नितांत भिन्न कोटि के प्रत्यय हैं।[14]

परन्तु 'अभाव' की समस्या का उपरोक्त विश्लेषण तभी तक संगत है जब तक हम 'दर्शन' की समस्याओं को 'भाषा' के विश्लेषण द्वारा समझने का प्रयास करते हैं। भाषा के इस माध्यम को यदि हम अपने सामने से हटा दे तो 'अभाव' के ज्ञान की समस्या पुनः अपने मूल रूप में उपस्थित हो जाती है। किन्तु इस समस्या का कोई भी उत्तर यदि हम स्वीकार करते हें तो उसके साथ उन अनेक प्रश्नों को भी स्वीकार करना पड़ता है जो उस उत्तर के साथ ही उत्पन्न होते हैं। सम्भवतः मानवीय बुद्धि की क्रीड़ा से ऐसी समस्यायें उत्पन्न तो हो जाती हैं किन्तु मानवीय बुद्धि की सीमा के कारण हम इन समस्याओं का कोई निश्चित हल नहीं ढूँढ़ पाते हैं।

अंत टिप्पणी

1. *चट्टोपाध्याय, सतीशचन्द्र एवं दत्त धीरेन्द्र मोहन, भारतीय दर्शन, हिन्दी अनुवाद, झा, हरिमोहन एवं मिश्र, नित्यानंद, पुस्तक भण्डार, पटना, 1984, पृ0 131*
2. *प्रशस्तपाद, पदार्थ धर्म संग्रह, पृ0 16*
3. *अन्नमभट्ट, तर्क संग्रह, पृ0 70*
4. *भट्ट, कुमारिल, श्लोक वार्तिक*
5. *भट्ट नारायण, मानमेयोदय:, श्लोक सं0 155*
6. *भट्ट नारायण, मानमेयोदय:, श्लोक सं0 156*
7. *विजल्वान, डॉ0 चक्रधर, भारतीय न्याय शास्त्र, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, 1998, पृ0 सं0 415*
8. *भट्ट, जयन्त, न्याय मंजरी, 1–51*
9. *धर्मकीर्ति, न्यायविन्दु*
10. *अविनाभाव सम्बन्ध को निम्न वाक्य द्वारा समझा जा सकता है–*

    ''जहाँ–जहाँ घड़ा नहीं है
    वहाँ–वहाँ घड़े का भाव नहीं है।''

    ध्यातब्य है कि यह वाक्य एक प्रकार का पुनर्कथन (Tautology) माना जाता है; यह एक विश्लेषणात्मक वाक्य (Analytic Proposition) है जिसमें वाक्य का विधेय पद उसके उद्देश्य पद के सम्बन्ध में कोई नवीन जानकारीस नहीं देता है। ऐसा पुनर्कथनीय वाक्य (के आधार पर), जो स्वयं किसी नवीन ज्ञान का उत्पादन नहीं करता है, से अनुमान किस प्रकार सम्भव है?
11. *द्रष्टव्यः शेरवात्स्की, एफ0टी0, बौद्ध न्याय, हिन्दी अनुवाद, राय रामकुमार,स चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1969*
12. *"…..the clarity that we are aiming at is indeed complete clarity. But this simply means that the Philosophical problems should completely disappear", (PI.I. Section 133)*
13. *"A picture held us captive. And we could not get outside it for it lay in our language and it seemed to repeat it to us inexorably. (PI.I. Section 115).*
14. *पठनीयः राइल गिल्वर्ट, द कॉन्सेप्ट ऑफ माइन्ड*

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. *Analytic Philosophy in Early Modern India, Stanford Encyclopedia of Philosophy First published Tue Mar 10, 2009; substantive revision Wed May 29, 2019*
2. *The Perception of Non-existence: Dichotomy of Nyaya-Mimamsakas, International Journal of Humanities and Social Science Invention ,Dr. Chhanda Chatterjee & Dr. Amiya Chatterjee Department of Philosophy, Balurghat College, Dakshin Dinajpur, West Bengal, India,,ISSN (Online): 2319 – 7722, ISSN (Print): 2319 – 7714, www.ijhssi.org, Volume 2 Issue 3 ǁ March. 2013ǁ PP.47-49 www.ijhssi.org 47, p47-49*
3. *Thinking Negation in Early Hinduism and Classical Indian Philosophy Purushottama Bilimoria|, Feb 23, 2017 ... March 2017 , Volume 11, Issue 1, pp 13–33 (online)Bilimoria, P. Log. Univers. (2017) 11: 13. https://doi.org/10.1007/s11787-017-0161-8.*